ज्ञानी की गत ज्ञानी जाने........

'श्री सुखमनी साहिब' में ब्रह्मज्ञानी की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया हैः

ब्रह्म गिआनी का कथिआ न जाइ अधाख्यरु।।
ब्रह्म गिआनी सरब का ठाकुरु।।
ब्रह्म गिआनी कि मिति कउनु बखानै।।
ब्रह्म गिआनी की गति ब्रह्म गिआनी जानै।।

'ब्रह्मज्ञानी के बारे में आधा अक्षर भी नहीं कहा जा सकता है। वे सभी के ठाकुर हैं। उनकी मति का कौन बखान करे? ब्रह्मज्ञानी की गति को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं।'

ऐसे ब्रह्म ज्ञानी के, ऐसे अनंत-अनंत ब्रह्माण्डों के शाह के व्यवहार की तुलना किस प्रकार, किसके साथ की जाय?

शुकः त्यागी कृष्ण भोगी जनक राघव नरेन्द्राः।
वशिष्ठ कर्मनिष्ठश्च सर्वेषां ज्ञानीनां समानमुक्ताः।।

'शुकदेव जी त्यागी हैं, श्री कृष्ण भोगी हैं, जनक और श्रीराम राजा हैं, वशिष्ठजी महाराज कर्मनिष्ठावाले हैं फिर भी सभी ज्ञानियों का अनुभव समान है।'

'श्री योग वाशिष्ठ महारामायण' में वशिष्ठजी महाराज कहते हैं-

'ज्ञानवान आत्मपद को पाकर आनंदित होता है और वह आनंद कभी दूर नहीं होता, क्योंकि उसको उस आनंद के आगे अष्टसिद्धियाँ तृण के समान लगती हैं। हे राम ! ऐसे पुरुषों का आचार तथा जिन स्थानों में वे रहते हैं, वह भी सुनो। कई तो एकांत में जा बैठते हैं, कई शुभ स्थानों में रहते हैं, कई गृहस्थी में ही रहते हैं, कई अवधूत होकर सबको दुर्वचन कहते हैं, कई तपस्या करते हैं, कई परम ध्यान लगाकर बैठते हैं, कई नंगे फिरते हैं, कई बैठे राज्य करते हैं, कई पण्डित होकर उपदेश करते हैं, कई परम मौन धारे हैं, कई पहाड़ की कन्दराओं में जा बैठते हैं, कई ब्राह्मण हैं, कई संन्यासी हैं, कई अज्ञानी की नाईं विचरते हैं, कई नीच पामर की नाईं होते हैं, कई आकाश में उड़ते हैं और नाना प्रकार की क्रिया करते दिखते हैं परन्तु सदा अपने स्वरूप में स्थित हैं।'

"ज्ञानवान बाहर से अज्ञानी की नाईं व्यवहार करते हैं, परंतु निश्चय में जगत को भ्रांति मात्र जानते हैं अथवा सब ब्रह्म जानते हैं। वे सदा स्वभाव में स्थित रहते हैं और अनिच्छित प्रारब्ध को भोगते हैं, परंतु जाग्रत में सुषुप्ति की नाईं स्थित रहते हैं।"

(श्रीयोगवा. निर्वाण प्र. सर्ग. 212)

ज्ञानवान को कैसे पहचाना जाय? **तस्य तुलना केन जायते?** उनकी तुलना किससे करें? इसीलिए नानकजी ने कहाः

ब्रह्म गिआनी की गति ब्रह्म गिआनी जाने।

'ब्रह्मज्ञानी की गति को तो केवल ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं।'

कुछ ऐसे ज्ञानवान हैं जो लोकाचार करते हैं, उपदेश देते हैं, वैदिक ज्ञानध्यान का प्रकाश देते हैं। कुछ ऐसे हैं कि सब कुछ छोड़कर एकांत में समाधि में रहते हैं। कुछ ज्ञानवान ऐसे हैं कि पागलों जैसा या उग्ररूप धारण कर लेते हैं और लोक संपर्क से बचे रहते हैं। कुछ ऐसे होते हैं कि लोकांतर में योग शक्ति से विचरण करते हैं और कोई ऐसे होते हैं कि योद्धा और राजा होकर राज करते हैं।

जैसे - भगवान श्रीकृष्ण हैं। वे बड़ा राजकाज करते हैं - द्वारिका का राज चलाते हैं, संधिदूत बनकर जाते हैं, 'नरो वा कुंजरो वा' भी कर देते हैं, करवा देते हैं, रणछोड़राय भी हो जाते हैं परंतु अदर से ज्यों-के-त्यों हैं ! अरे ! वह कालयवन नाराज है, भागो-रे-भागो ! कहकर भाग जाते हैं तो कायर लोग बोलेंगे कि हम में और श्रीकृष्ण में कोई फर्क नहीं है। हम भी भागते हैं और श्रीकृष्ण भी भाग गये। अरे मूर्ख ! श्रीकृष्ण भागे, परंतु वे अपने आप में तृप्त थे। उनका भागना भय या कायरता नहीं, व्यवस्था थी, माँग थी किंतु औरों के लिए विवशता और कायरता होती है। वे रण छोड़कर भागे हैं, युद्ध का मैदान छोड़कर भागे हैं फिर भी कहा जाता है - रणछोड़राय की जय ! क्योंकि वे अपने आप में पूर्ण हैं, सत्ता समान में स्थित हैं।

ऐसे ही भगवान श्री राम 'हा सीता, हा ! सीते' कर रहे हैं.... कामी आदमी पत्नी के लिए रोये और

श्रीराम जी रोते हुए दिखें, बाहर से तो दोनों को एक ही तराजू में तौलने का कोई दुःसाहस कर ले परंतु श्रीरामचंद्रजी ' हा सीते ! हा सीते !' करते हुए भी भीतर से तो अपने सत्ता समान में स्थित हैं।

शुकदेव जी महाराज को देखें तो महान त्यागी और श्रीकृष्ण बड़े विलक्षण भोगी... राजा जनक को देखें तो भोग और राज-काज में उलझे दिखेंगे और वशिष्ठ जी बड़े कर्मकांडी... इन सब ज्ञानियों का व्यवहार अलग-अलग है, परंतु भीतर से सब समान रूप से परमात्म-अनुभव में रमण करते हैं।

सती अनसूयाजी के तीन बेटे थे और तीनों ब्रह्मज्ञानी, आत्मसाक्षात्कारी, भगवत्स्वरूप। परंतु तीनों का व्यवहार देखो तो एकदम अलग । दत्तात्रेयजी सत्य प्रधान ब्रह्मवेत्ता थे, बड़े विरक्त थे। दूसरे पुत्र थे चंद्र। वे रजोगुणी थे, बड़े विलासी थे। स्त्रियों के बीच, ललनाओं के बीच रहते थे। दुर्वासाजी तमस प्रधान महान क्रोधी थे, फिर भी ज्ञानी थे....

एक बार कोई ब्राह्मण जा रहा था। दुर्वासा जी ने उसे बुलायाः "ऐ.... इधर आ। कहाँ जा रहा है?"

"महाराजजी ! मैं तप करने गया था। अंबा की उपासना की थी संतान प्राप्ति के लिए। माँ प्रकट हुई और आशीर्वाद दिया कि 'तुझे संतान होगी।' तप करके लौट रहा हूँ।"

"मैं आशीर्वाद निरस्त करता हूँ। हम यहाँ बैठे हैं और तू उधर से प्रणाम किये बिना ही चला गया? जा, तेरा वरदान निरस्त।"

इस प्रकार लोगों को बताया कि जिन माता की, शिव की या कृष्ण की उपासना करते हो वे शिव, कृष्ण या माता जिस परमात्मसत्ता से वरदान दे सकते हैं, वही परमात्मसत्ता तुम्हारे अंदर भी है, महात्मा के अंदर भी है। महात्मा ने उसका अनुभव किया है तो वे वरदान निरस्त भी कर सकते हैं। समाज को उपदेश देने के लिए उनका ऐसा उग्ररूप कि ब्राह्मण ने तपस्या करके माँ से तो वरदान लिया और दुर्वासा जी ने कह दियाः "जा, वरदान निरस्त !'

एक बार दुर्वासा जी को अतिथि होने की बात जँच गयी। वे कहने लगेः "है कोई माई का लाल ! दुर्वासा को अपना मेहमान बना ले?"

लोगों ने देखा कि 'दुर्वासा जी तो ब्रह्मज्ञानी तो हैं परन्तु जरा-जरा बात में क्रोधित हो जाते हैं और बम-गोला भी कुछ मायना नहीं रखता ऐसा शाप दे डालते हैं। अपने यहाँ पर मेहमान रखने पर यश, आशीर्वाद तो बहुत मिलेगा परंतु नाराज हो जायेंगे तो शाप भी भयंकर मिलेगा। इसलिए यक्ष, गंधर्व, देवता आदि किसी ने भी हिम्मत नहीं की उन्हें मेहमान बनाने की।

दुर्वासा जी सब लोक-लोकांतर में घूमे, किंतु यक्ष, गंधर्व, किन्नर यहाँ तक कि देवता लोग भी साहस न जुटा सके। आखिर वे धरती पर आये और विचरण करते हुए कहने लगेः " है कोई ईश्वर का प्यारा !

है कोई हिम्मतवाला ! जो दुर्वासा को अपना अतिथि बनाये? शर्त भी सुन लो कि जब चाहूँ आऊँ, जब चाहूँ जाऊँ, जो चाहूँ सो खाऊँ, औरों को खिलाऊँ, घर की चीज लुटाऊँ। इसके लिए बाहर से तो मना नहीं करेगा परंतु मन से भी रोकेगा-टोकेगा तो शाप दूँगा, शाप! है कोई हरि का प्यारा ! संत का दुलारा ! जो दुर्वासा को अपना अतिथि बनाये?"

अब कौन रखे? जब आयें, जैसे आयें, जिनको लायें, भोजन तैयार चाहिए। जितना खायें, जितना दें, जितना लुटायें, कोई कुछ न कहे? बाहर से तो न कहे परंतु मन से भी जरा भी इधर-उधर न सोचे। अगर सोचता हुआ दिखेगा तो भयंकर शाप दे देंगे। दुर्वासा जी जैसे महापुरुष को अपने यहाँ रखकर कौन संकट मोल ले?

कभी आ गये तो उनके दस हजार शिष्य इकट्ठे हो गये, खाना बनाओ। चलो, हम नहा कर आते हैं, नहाने गये तो गये। फिर कब आते हैं, कोई पता नहीं। अंबरीष जैसे राजा ने इंतजार करते-करते बारस के दिन पारणे के वक्त थोड़ा जल पी लिया और दुर्वासाजी जरा देर-से पहुँचे। आते ही बोल उठेः "हमारे आने के पहले तूने जल पी लिया? जा हम तुझे शाप देते हैं।" - भागवत में कथा आती है। शाप देने में प्रसिद्ध थे दुर्वासाजी। अब ऐसे दुर्वासा जी को पुण्यलाभ के लिए, यश लाभ के लिए अतिथि रखना तो कई चाहते हैं परन्तु हिम्मत किसी की नहीं हो रही। आखिर घूमते-घूमते द्वारिका पहुँचेः "है कोई हरि का प्यारा ! संतों का दुलारा ! है कोई धरती पर माई का लाल ! दुर्वासा ऋषि को अपना अतिथि बनाने की है किसी की ताकत?"

द्वारिका में ठीक चौराहे पर जाकर यही पुकारने लगे, जिससे श्रीकृष्ण के कानों तक आवाज पहुँचे। उनको तो मौज लेनी थी, बाँटना था। 'ब्रह्मज्ञान क्या होता है? जीवात्मा कितना स्वतंत्र है? तप में कितना सामर्थ्य है?' यह समझाने की, उनके उपदेश की यही रीति थी।

ज्ञानी का स्वनिर्मित विनोद होता है। कौन ज्ञानी, किस विनोद से, कैसे, किसका कल्याण कर दे, उसकी कोई मापतौल हम नहीं निकाल सकते हैं। शाप देकर भी कल्याण, प्यार देकर भी कल्याण, वस्तु देकर भी कल्याण, वस्तु लेकर भी कल्याण.... ऐसे होते हैं ज्ञानवान !

मनु महाराज राजा इक्ष्वाकु से कहते हैं कि 'हे राजन् ! ज्ञानवान सर्वदा नमस्कार करने और पूजने योग्य हैं। जिस स्थान पर ज्ञानवान बैठते हैं, उस स्थान को भी नमस्कार है। जिससे वे बोलते हैं, उस जिह्वा को भी नमस्कार है। जिस पर ज्ञानवान दृष्टि डालते हैं, उसको भी नमस्कार है।'
अगर श्रेष्ठ पुरुष वस्तु नहीं ले तो फिर देने वाला कहाँ देगा?

'श्री महाभारत' में लिखा है कि दान देना तो पुण्यदायी है, परंतु उत्तम पुरुष दान न ले तो दान व्यर्थ हो जाता है। जो लोभी है, क्रोधी है, कामी है, कपटी है, पातकी है, पापी है, ऐसों को दिया गया दान व्यर्थ हो जाता है। हाँ लाचार है, मोहताज है तो दया करना अलग बात है परंतु दान तो श्रेष्ठ पुरुषों को ही दिया जाता है। जो भजन करते हैं, करवाते हैं, जो शुभ करते हैं, करवाते हैं।

भीष्म जी युधिष्ठिर महाराज को कहते हैं कि "दाता को दान देने में जो पुण्य होता है, उत्तम गृहीता को लेने में भी वही पुण्य होता है। ऐसे तो दान लोहे का चना है। परंतु गृहीता उत्तम है, दान की वस्तु ली और उसका ठीक से उपयोग कर दिया तो दाता को जो पुण्य होता है, वही गृहीता को भी होता है।" दुर्वासाजी ऐसे महापुरुष थे। अपनी योगलीला से, योगबल से विचरण करते थे ज्ञान की मस्ती में.. उन्होंने इस तरह से आवाज लगायी कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण सुनें।

'है कोई माई का लाल !' माई का लाल, यशोदा का लाल, देवकी का लाल तो वहाँ मौजूद है। सारे लोकों के लालों का लाल दिलबर लाल है, कन्हैया लाल है, वहाँ दुर्वासा जी टेर लगायें और कोई लाल प्रकट न हों यह श्रीकृष्ण कैसे देख लेंगे? श्री कृष्ण कैसे चुपके से बैठे रहेंगे? चुनौती मिल रही है कि "है कोई धरती पर माई का लाल ! श्री कृष्ण ने ध्यान से सुना कि कौन है? देखा तो दुर्वासा जी ! आज तो दुर्वासा जी को अतिथि रखने की चुनौती मिल रही है।

'जब आऊँ, जब जाऊँ, जो चाहूँ, जहाँ चाहूँ, जितना चाहूँ खाऊँ, जिनको चाहूँ खिलाऊँ, जिनको चाहूँ, जो चाहूँ दूँ, जितना भी लुटाऊँ, जो भी लुटाऊँ, जैसा करूँ, जितना भी करूँ, जब भी करूँ, न कोई रोके न कोई टोके। बाहर से तो क्या मन से भी रोकेगा-टोकेगा तो शाप दूँगा। सुन ले, है कोई माई का लाल ! जो मुझे अतिथि रखता है तो आ जाय।'

श्रीकृष्णजी आये और बोलेः "महाराज ! यह है।"

दुर्वासाजीः "मेरी शर्त है।"

"महाराज ! आपने जो कहीं वे सभी स्वीकार हैं और जो भूल गये हों या जितनी भी और शर्तें हों वे भी स्वीकार हैं।"

महाराज ! ये तो ठीक है परंतु घर का सामान किसी को दूँ, किसी को दिलाऊँ, चाहे जलाऊँ... अपनी शर्त में ऐसा भी रख दीजिए। घर का सामान उठाकर देनेवाला कोई मिलेगा तो आप दोगे, आप उठा तो नहीं सकोगे। आप चाहें तो घर को भी जला दें तो भी हमारे मन में कभी क्षोभ नहीं होगा, महाराज ! आइये, हमारे अतिथि बनिये।"

जहाँ कृष्ण थे, वहाँ महाराज थे। अब दोनों महाराज मिल गये।

दोनों की सूरत एक है किसको खुदा कहें?
तुझे खुदा कहें कि उसे खुदा कहें?

दुर्वासाजी को धरती पर प्रकाश करना था की जीवात्म अपने परमात्मा में स्थित हो जाय। दुर्वासा ऋषि आये, एक दो दिन रहे.... उनको तो करनी थी कुछ लीला। कहीं भोजन में नमक कम हो तो चिल्लावें, झूठ कैसे बोलें? यहाँ तो सब ठीक-ठाक था।

दुर्वासा जीः "अच्छा, तो हम अभी जायेंगे और थोड़ी देर में आयेंगे। हमारे जो भगत होंगे उनको भी लायेंगे। भोजन तैयार हो।"

दुर्वासाजी जायें, आयें तो भोजन तैयार मिले। किसी को बाँटें, बँटवायें.... ऐसा-वैसा करें। फिर भी देखा कि 'श्रीकृष्ण किसी भी गलती में नहीं आते परंतु मुझे लाना है। श्रीकृष्ण को अच्छा नहीं लगे अथवा रुक्मिणी को अच्छा नहीं लगे - ऐसा कुछ करना है। शर्त है कि 'ना' बोल देंगे अथवा अंदर से भी कुछ बोल देंगे तो फिर मैं शाप दूँगा।'
श्रीकृष्ण को शाप देने का मौका ढूँढ रहे थे। सती अनुसूयाजी के पुत्र दुर्वासा ऋषि कैसे हैं!

एक दिन दोपहर के समय दुर्वासाजी विचारने लगे कि 'सब सेवा-चाकरी ठीक से हो रही है। जो माँगता हूं, तैयार मिलता है। जो माँगता हूँ या तो प्रकट कर देते हैं या फिर सिद्धि के बल से धर देते हैं। सब सिद्धियाँ इनके पास मौजूद हैं, 64 कलाओं के जानकार हैं। अब ऐसा कुछ करें कि श्रीकृष्ण नाराज हो जायें।'
घर का सारा लकड़ी का सामान इकट्ठा किया। फिर आग लगा दी और जटाएँ खोलकर बोलेः "होली रे होली.... कृष्ण ! देखो, होली जल गयी।"
कृष्णः "हाँ, गुरुजी ! होली रे होली...."

गुरु तो पक्का परंतु चेला भी पक्का... "हाँ गुरुजी।" श्रीकृष्ण चेला बनने में भी कोई कसर बाकी नहीं रखते हैं ! कोई इन्कार नहीं, कोई फरियाद नहीं।
अरे, कृष्ण ! ये सब लकड़ी का सामान जल रहा है तेरा !

"हाँ ! मेरी सारी सृष्टियाँ कई बार जलती हैं, कई बार बनती हैं, गुरुजी ! होली रे होली !"

"कृष्ण ! हृदय में चोट नहीं लगती है?"

"आप गुरुओं का प्रसाद है तो चोट क्यों लगेगी?"

'अच्छा ! कृष्ण फँसे नहीं, ये तो हँस रहे हैं। ठीक है, मेरा नाम भी दुर्वासा है।' मन में ठान लिया दुर्वासा जी ने।
ऐसा करते-करते मौका देखकर एक दिन दुर्वासा जी बोलेः "हम नहाने जा रहे हैं।"

कृष्णः "गुरुजी ! आप आयेंगे तो आपके लिए भोजन क्या होगा?"

"हम नहाकर आयेंगे तब जो इच्छा होगी बोल देंगे, वही भोजन दे देना।"

दुर्वासा जी ने सोचा 'पहले बोलकर जायेंगे तो सब तैयार मिलेगा। आकर ऐसी चीज माँगूगा जो घर में तैयार न हो। कृष्ण लेने जायेंगे या मँगवायेंगे तो मैं रूठ जाऊँगा...'

दुर्वासा जी नहाकर आये और बोलेः "मुझे ढेर सारी खीर खाना है।"

श्रीकृष्ण बड़ा कड़ाह भरकर ले आयेः "लीजिए, गुरुजी !"

"अरे, तुमको कैसे पता चला?"

आप यही बोलनेवाले हैं, मुझे पता चल गया तो मैंने तैयार करके रखवा दिया। जहाँ से आपका विचार उठता है वहाँ तो मैं रहता हूँ। आपको कौन-सी चीज अच्छी लगती है? आप किस समय क्या माँगेंगे? यह तो आपके मन में आयेगा न? मन में आयेगा, उसकी गहराई में तो हम हैं।"

"तुम्हीं गहराई में रहते हो? हम नहीं रहते हैं?"

"आप और हम दिखते दो हैं, हैं तो एक ही।"

"अच्छा, एक हैं। एक तुम, एक हम। तो एक और एक दो हो गये?"

नहीं, एकमेव अद्वितीय है। एक और एक दो नहीं, वही एक है।"

जैसे एक घड़े का आकाश, दूसरे घड़े का दूसरा आकाश, तीसरे घड़े का तीसरा आकाश... तीन आकाश हुए? नहीं, आकाश तो एक ही है। एकमेव अद्वितीय है। जैसे, तरंगे कई हैं परंतु पानी एक है। पंखे, फ्रिज, कूलर, हीटर, गीज़र... सब अलग-अलग हैं परंतु विद्युत एक की एक, ऐसे ही एकमेव अद्वितीय है वह परमात्मा।

जिस सत्ता से माँ की आँख प्रेम से देखती है, उसी सत्ता से बच्चे की आँख भी स्नेह से निहारती है। जिस सत्ता से पत्नी देखती है उसी सत्ता से पति देखता है, आँखें भले अलग-अलग हैं, मन के विचार और विकार अनेक हैं परंतु आत्मसत्ता एक ही है। सारी मानव जाति उसी परमात्मा की सत्ता से देखती है। सारे मानव, सारी गायें, सारे पशु, सारे पक्षी... उसी चैतन्य की सत्ता से देखते हैं। उसी में श्रीकृष्ण ज्यों-के-त्यों हैं। उनकी प्रेमावतार की लीला है और दुर्वासा जी की शापावतार की लीला है। लीला अलग-अलग है, परंतु लीला का सामर्थ्य और दृष्टा एक ही है।

दुर्वासाजी खीर खा रहे हैं। देखा कि रुक्मिणी हँस रही है। "अरे ! क्यों हँसी? रुक्मिणी की बच्ची?"
"गुरुजी ! आप तो महान हैं, परन्तु आपका चेला भी कम नहीं है। आप माँगेगे खीर... यह जानकर उन्होंने पहले से ही कह दिया कि खीर का कड़ाह तैयार रखो। थोड़ी बनाते तो डाँट पड़ती... आप आयेंगे और ढेर सारी खीर माँगेगे तो इस कड़ाहे में खीर भी ढेर सारी है। जैसा आपने माँगा, वैसा हमारे प्रभु ने पहले से ही तैयार

रखवाया है। इस बात की हँसी आती है।"

"हाँ, बड़ी हँसती है सफलता दिखती है तेरे प्रभु की?" इधर आ।

रुक्मिणीजी आयीं तो दुर्वासाजी ने रुक्मिणी की चोटी पकड़ी और उनके मुँह पर खीर मल दी। अब कोई पति कैसे देखे कि कोई बाबा पत्नी की चोटी पकड़ कर उसे 'बंदर छाप' बना रहा है? थोड़ा बहुत कुछ तो होगा कि 'यह क्या?' अगर थोड़ी भी शिकन आयेगी चेहरे तो सेवा सब नष्ट और शाप दूँगा, शाप।' यह शर्त थी।

दुर्वासाजी ने श्रीकृष्ण की ओर देखा तो श्रीकृष्ण के चेहरे पर शिकन नहीं है। अन्दर से कोई रोष नहीं है। श्री कृष्ण ज्यों-के-त्यों खड़े हैं।

"श्री कृष्ण ! कैसी लगती है ये रुक्मिणी?"

"हाँ, गुरुजी ! जैसी आप चाहते हैं, वैसी ही लगती है।"

अगर 'अच्छी लगती है' बोलें तो है नहीं और 'ठीक नहीं लगती' बोलें तो गलती है। इसलिए कहाः "गुरुजी ! जैसा आप चाहते हैं, वैसी लगती है।"

अरे ! ज्ञाननिधि हैं श्रीकृष्ण तो ! पढ़ने लिखने से श्रीकृष्ण का पता थोड़े ही चलता है? जितना तुम कृष्ण-तत्त्व में जाओ, उतना ही कृष्ण का छुपा हुआ अमृत प्रकट होता है।

दुर्वासाजी ने देखा कि पत्नी को ऐसा किया तो भी कृष्ण में कोई फर्क नहीं पड़ा। रुक्मिणी तो अर्धांगिनी है। कृष्ण को कुछ गड़बड़ करें तो रुक्मिणी के चेहरे पर शिकन पड़ेगी ऐसा सोचकर कृष्ण को बुलायाः

"कृष्ण ! यह खीर बहुत अच्छी है।"

"हाँ, गुरुजी ! अच्छी है।"

"तो फिर क्या देखते हो? खाओ।"

श्रीकृष्ण ने खीर खायी।

"इतना ही नहीं, सारे शरीर को खीर लगाओ। जैसे मुलतानी मिट्‌टी लगाते हैं ऐसे पूरे शरीर को लगाओ। घुँघराले बालों में लगाओ। सब जगह लगाओ।"

"हाँ, गुरुजी।"

"कैसे लग रहे हो, कृष्ण?"

"गुरुजी, जैसा आप चाहते हैं वैसा।"

दुर्वासा जी ने देखा कि 'अभी-भी ये नहीं फँसे। क्या करूँ?' फिर बोलेः

"मुझे रथ में बैठना है, रथ मँगवाओ। नहाना नहीं, ऐसे ही चलो।" रथ मँगवाया।

दुर्वासाजी बोलेः "घोड़े हटा दो।" घोड़े हटा दिये गये। "मैं रथ में बैठूँगा। एक तरफ रुक्मिणी, एक तरफ श्री कृष्ण, रथ खींचेगे।"

दुर्वासाजी को हुआ 'अब तो ना बोलेंगे कि ऐसी स्थिति में? खीर लगी हुई है, रुक्मिणी भी बनी हुई है 'हनुमान कंपनी।'

परंतु दोनों ने रथ खींचा। मैंने कथा सुनी है कि जैसे, घोड़े को चलाते हैं ऐसे उनको चलाया। रथ चौराहे पर पहुँचा। लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी कि 'श्रीकृष्ण कौन-से बाबा के चक्कर में आ गये?' अब बाबा क्या हैं यह श्रीकृष्ण जानते हैं और श्रीकृष्ण क्या हैं यह बाबा जितना जानते हैं उतना श्रीकृष्ण के बेटे या पोते भी नहीं जानते। अरे ! श्रीकृष्ण के साथी भी श्रीकृष्ण को उतना नहीं जानते होंगे जितना दुर्वासा जी जानते हैं क्योंकि दुर्वासाजी अपने को जानते हैं। वे तो मोह से पार थे, देहाध्यास से पार थे।

ब्रह्मवेत्ता जितना अपने को जानता है उतना ही दुनिया को ठीक से जानता है और अज्ञानी अपने को ही ठीक से नहीं जानता तो दुनिया को क्या जानेगा? वह भले बाहर से बाल की खाल उतारे दे। परंतु तत्त्वरूप से तो ज्ञानी, ज्ञानी होता है।

लोगों ने देखा कि 'यह क्या ! दुर्वासाजी रथ पर बैठे हैं। खीर और पसीने से तरबतर श्री कृष्ण और रुक्मिणी जी दोनों रथ हाँक रहे हैं? मुँह पर, सर्वांग पर खीर लगी हुई है?'

लोगों को श्रीकृष्ण पर तरस आया कि "कैसे बाबा के चककर में आ गये हैं?" परंतु श्रीकृष्ण अपने को दीन-हीन नहीं मान रहे। श्री कृष्ण जानते हैं-

विनोदमात्र व्यवहार जिसका ब्रह्मनिष्ठ प्रमाण।

'जिसका व्यवहार विनोदमात्र हो, वह ब्रह्मवेत्ता है।'

द्वारिका के लोग इकट्ठे हो गये, चौराहे पर रथ आ गया है फिर भी श्रीकृष्ण को कोई फर्क नहीं पड़ रहा है? दुर्वासाजी उतरे और जैसे, घोड़े को पुचकारते हैं वैसे ही पुचकारते हुए पूछाः "क्यों रुक्मिणी ! कैसा रहा?"

"गुरुजी आनंद है।"

"कृष्ण ! कैसा रहा?"

"जैसा आपको अच्छा लगता है, वैसा ही अच्छा है।"

जो तिद भावे सो भलीकार... जो ब्रह्म को अच्छा लगे वह अच्छा है।

दुर्वासाजी ने श्रीकृष्ण से कहाः "कृष्ण ! मैं तुम्हारी सेवा पर, समता पर, सजगता पर, सूझबूझ

पर प्रसन्न हूँ। परिस्थितियाँ सब माया में हैं और मैं मायातीत हूँ, तुम्हारी ये समझ इतनी बढ़िया है कि इससे मैं बहुत खुश हूँ। तुम जो वरदान माँगना चाहो, माँग लो। परंतु देखो कृष्ण ! तुमने एक गलती की। मैंने कहा खीर चुपड़ो, तुमने खीर सारे शरीर पर चुपड़ी पर हे कन्हैया ! पैरों के तलुओं पर नहीं चुपड़ी। तुम्हारा सारा शरीर अब वज्रकाय हो गया है। इस शरीर पर अब कोई हथियार सफल नहीं होगा, परंतु पैरों के तलुओं का ख्याल करना। पैरों के तलुओं में कोई बाण न लगे, क्योंकि तुमने वहाँ मेरी जूठी खीर नहीं लगायी है।"

श्रीकृष्ण को शिकारी ने मृग जानकर बाण मारा और पैर के तलुए में लगा। और जगह लगता तो कोई असर नहीं होता। युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण अर्जुन का रथ चला रहे थे वहाँ पर शत्रु पक्ष के बाणों का उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था।
दुर्वासाजीः "क्या चाहिए, कृष्ण?"
"गुरुजी ! आप प्रसन्न रहें।"
"मैं तो प्रसन्न हूँ, परंतु कृष्ण ! जहाँ कोई तुम्हारा नाम लेगा वहाँ भी प्रसन्नता हाजिर हो जायेगी, वरदान देता हूँ."

श्रीकृष्ण का नाम लेते ही प्रसन्नता हाजिर हो जाती है। श्रीकृष्ण का नाम लेने से प्रसन्नता मिलेगी - ये दुर्वासा ऋषि के वचन अभी तक प्रकृति सत्य कर रही है। परब्रह्म परमात्मा में टिके हुए दुर्वासाजी का शरीर हम लोगों के सामने नहीं है, परंतु उनका वचन अभी-भी सच्चा महसूस होता है।

कैसे होते हैं वे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष ! सचमुच, उनके विषय में कहना किसी के बस की बात नहीं.... नानकजी ने ठीक ही कहाः

ब्रह्म गिआनी का कथिआ न जाइ अधयाख्यरु।
ब्रह्म गिआनी सरब का ठाकुरु॥

ऐसे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष कब, किस रूप में, कहाँ मिल जायें? कहना मुश्किल है। कोई ऐसे ज्ञानवान हैं जो त्यागी है, कोई ऐसे ज्ञानवान हैं जो एकांत अरण्य में निवास करते हैं, कोई ऐसे ज्ञानवान हैं जो शूरमा होकर युद्ध करते हैं और कोई ऐसे ज्ञानवान हैं जो स्त्रियों के साथ रमण करते हैं। ज्ञानवान भीतर से सत्ता समान में स्थित होते हैं और बाहर से प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार करते दिखते हैं।

संत में एक भी सदगुण दिखे तो लाभ ले लें। उनमें दोष देखना और सुनना अपने को मुक्तिफल से वंचित करके अशांति की आग में झोंकने के बराबर है।

'श्री योगवाशिष्ठ महारामायण' के निर्वाण प्रकरण के 208वें सर्ग में आता हैः "हे रामजी ! जिसकी संतों की संगति प्राप्त होती है, वह भी संत हो जाता है। संतों का संग वृथा नहीं जाता। जैसे, अग्नि से मिला पदार्थ अग्निरूप हो जाता है, वैसे ही संतों के संग से असंत भी संत हो जाता है और मूर्खों की संगति से साधु भी मूर्ख हो जाता है। जैसे, उज्जवल वस्त्र मल के संग से मलिन हो जाता है, वैसे ही मूढ का संग करने से साधु भी मूढ हो जाता है। क्योंकि पाप के वश उपद्रव भी होते हैं, इसी से दुर्जनों की संगति से साधु को भी दुर्जनता घेर लेती है। इससे हे राम! दुर्जन की संगति सर्वथा त्यागनी चाहिए और संतों की संगति कर्त्तव्य है। जो परमहंस संत मिले और जो साधु हो और जिसमें एक गुण भी शुभ हो, उसका भी अंगीकार कीजिए, परंतु साधु के दोष न विचारिये, उसके शुभ गुण ही ग्रहण कीजिये।"

द्वेष बुद्धि से तो श्रीकृष्ण, श्रीराम, संत कबीर आदि दुनिया के सभी संतों में दोष देखने को मिलेंगे। उनके यश को देखकर निंदा करने वाले भी बहुत मिलेंगे, परंतु गुणग्राहियों ने संत-महापुरुषों से लाभ उठाया है और अपना जीवन सफल किया है।

जिनका जीवन आज भी किसी संत या महापुरुष के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सान्निध्य में है, उनके जीवन में निश्चिन्तता, निर्विकारिता, निर्भयता, प्रसन्नता, सरलता, समता व दयालुता के दैवी गुण साधारण मानवों की अपेक्षा अधिक ही होते हैं तथा देर-सवेर वे भी महान हो जाते हैं और जो लोग महापुरुषों का, धर्म का सामीप्य व मार्गदर्शन पाने से कतराते हैं, वे प्रायः अशांत, उद्विग्न व दुःखी देखे जाते हैं व भटकते रहते हैं। इनमें से कई लोग आसुरी वृत्तियों से युक्त होकर संतों के निन्दक बनकर अपना सर्वनाश कर लेते हैं।

शास्त्रों में आता है कि संत की निन्दा, विरोध या अन्य किसी त्रुटि के बदले में संत क्रोध कर दें, शाप दे दें तो इतना अनिष्ट नहीं होता जितना अनिष्ट संतों की खामोशी व सहनशीलता के कारण होता है। सच्चे संतों की बुराई का फल तो भोगना ही पड़ता है। संत तो दयालु और उदार होते हैं। वे तो क्षमा कर देते हैं, परंतु प्रकृति कभी नहीं छोड़ती। इतिहास उठाकर देखें तो पता चलेगा कि सच्चे संतों व महापुरुषों के निन्दकों को कैसे-कैसे भीषण कष्टों को सहते हुए बेमौत मरना पड़ा है और पता नहीं किन-किन नरकों को सड़ना पड़ा है। अतएव समझदारी इसी में है कि हम संतों की प्रशंसा करके या उनके आदर्शों को अपनाकर लाभ न ले सकें तो उनकी निन्दा करके पुण्य व शांति भी नष्ट नहीं करें।
पराशर मुनि ने राजा जनक को कहा हैः

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभस्तथा।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्॥

'देवताओं और मुनियों द्वारा जो अनुचित कर्म दिये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मों को सुनकर भी उन देवता आदि की निन्दा न करे।'

महा. शांतिपर्व (291/17)

यह सत्य है कच्चे कान के लोग दुष्ट निन्दकों के वाग्जाल में फँस जाते हैं। जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में आत्मशांति देने वाला, परमात्मा से जोड़ने वाला कोई काम नहीं किया है, उसकी बात सच्ची मानने का कोई कारण ही नहीं है। तदुपरान्त मनुष्य को यह भी विचार करना चाहिए कि जिसकी वाणी और व्यवहार से हमें जीवन-विकास की प्रेरणा मिलती है, उसका यदि कोई अनादर करना चाहे तो हम उस महापुरुष की निन्दा कैसे सुन लेंगे? व कैसे मान लेंगे?

सत्पुरुष हमें जीवन के शिखर पर ले जाना चाहते हैं, किंतु कीचड़ उछालने वाला आदमी हमें खाई की ओर खींचकर ले जाना चाहता है। उसके चक्कर में हम क्यों फँसे? ऐसे अधम व्यक्ति के निन्दाचारों में पड़कर हमें पाप की गठरी बाँधने की क्या आवश्यकता है? इस जीवन में तमाम अशांतियाँ भरी हुई हैं। उन अशांतियों में वृद्धि करने से क्या लाभ?

निजानंद में मग्न इन आत्मज्ञानी संत पुरुषों को भला निंदा-स्तुति कैसे प्रभावित कर सकती है? वे तो सदैव ही उस अनंत परमात्मा के अनंत आनंद में निमग्न रहते हैं। वे महापुरुष उस पद में प्रतिष्ठित होते हैं जहाँ इन्द्र का पद भी छोटा हो जाता है।

पीत्वा ब्रह्मरसं योगिनो भूत्वा उन्मतः।
इन्द्रोऽपि रंकवत् भासयेत् अन्यस्य का वार्ता॥
तीन टूक कौपीन की भाजी बिना लूण।
तुलसी हृदय रघुवीर बसे तो इंद्र बापड़ो कूण॥

इन्द्र का वैभव भी तुच्छ समझने वाले ऐसे संत, जगत में कभी-कभी, कहीं-कहीं, विरले ही हुआ करते हैं। समझदार तो उनसे लाभ उठाकर अपनी आध्यात्मिक यात्रा तय कर लेते हैं, परंतु उनकी निंदा करने-सुनने वाले तथा उनको सताने वाले दुष्ट, अभागे, असामाजिक तत्त्व कौन सी योनियों में, कौन सी नरक में पच रहे होंगे यह हम नहीं जानते। ॐ

'श्री योगवाशिष्ठ महारामायण' में वशिष्ठजी महाराज ने कहा हैः "हे रामजी ! अज्ञानी जो कुछ मुझे कहते और हँसते हैं, सो मैं सब जानता हूँ, परंतु मेरा दया का स्वभाव है। इससे मैं चाहता हूँ कि किसी प्रकार वे नरकरूप संसार से निकलें। इसी कारण मैं उपदेश करता हूँ। संतों के गुणदोष न विचारना, परंतु

उनकी युक्ति लेकर संसार सागर से तर जाना।"

'श्री योगवाशिष्ठ' के उपशम प्रकरण के 72 वें सर्ग में वशिष्ठजी महाराज ने कहा हैः "ज्ञानवान अभिमान से रहित चेष्टा करता है। वह देखता, हँसता, लेता, देता है परंतु हृदय से सदा शीतल बुद्धि रहता है। सब कामों में वह अकर्ता है, संसार की ओर से सो रहा है और आत्मा की ओर जागृत है। उसने हृदय से सबका त्याग किया है, बाहर सब कार्यों को करता है और हृदय में किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करता। बाहर जैसा प्रकृत आचार प्राप्त होता है उसे अभिमान से रहित होकर करता है, द्वेष किसी में नहीं करता और सुख-दुःख में पवन की नाई होता है।

बाहर से सब कुछ करता दृष्टि आता है पर हृदय से सदा असंग है। हे रामजी ! वह भोक्ता में भोक्ता है, अभोक्ता है, मूर्खों में मूर्खवत् स्थित है, बालकों में बालकवत्, वृद्धों में वृद्धवत्, धैर्यवानों में धैर्यवान, सुख में सुखी, दुःख में धैर्यवान है। वह सदा पुण्यकर्ता, बुद्धिमान, प्रसन्न, मधुरवाणी संयुक्त और हृदय से तृप्त है। उसकी दीनता निवृत्त हुई है, वह सर्वथा कोमल भाव चंद्रमा की नाई शीतल और पूर्ण है।

शुभकर्म करने में उसे कुछ अर्थ नहीं और अशुभ कुछ पाप नहीं, ग्रहण में ग्रहण नहीं और त्याग में त्याग नहीं। वह न बंध है, न मुक्त है और न उसे आकाश में कार्य है न पाताल में कार्य है। वह यथावस्तु और यथादृष्टि आत्मा को देखता है, उसको द्वैतभाव कुछ नहीं फुरता और न उसको बंध-मुक्त होने के निमित्त कुछ कर्त्तव्य है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान से उसके सब संदेह जल गये हैं।"
भोले बाबा ने कहा हैः

यह विश्व सब है आत्म ही, इस भाँति से जो जानता।
यश वेद उसका गा रहे, प्रारब्धवश वह बर्तता॥
ऐसे विवेकी सन्त को, न निषेध है न विधान है।
सुख दुःख दोनों एक से, सब हानि-लाभ समान है॥
कोई न उसका शत्रु है, कोई न उसका मित्र है।
कल्याण सबका चाहता है, सर्व का सन्मित्र है॥
सब देश उसको एक से, बस्ती भले सुनसान है।
भोला ! उसे फिर भय कहाँ, सब हानि-लाभ समान है॥

सर्व के कल्याण में रत ऐसे ब्रह्मवेत्ता, चाहे फिर वे श्रीराम के रूप में हों या श्रीकृष्ण के, शुकदेव जी के रूप में हो या जनक के, दुर्वासाजी के रूप में हों या दत्तात्रेयजी के, संत कबीर के रूप में हों या मदालसा के, सती अनुसूयाजी के रूप में हों या सुलभा के..... फिर सबका बाह्य आचार भले प्रारब्धानुसार भिन्न-

भिन्न हो परंतु भीतर से समान रूप से ब्रह्मानंद में रमण करने वाले उन ब्रह्मवेत्ताओं के श्रीचरणों में कोटि-कोटि प्रणाम ! ॐ

सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते॥

धीर पुरुष संतुष्ट होते हुए भी संतुष्ट नहीं होता और खिन्न दिखता हुआ भी खिन्न नहीं होता। उसकी ऐसी आश्चर्य दशा को उसके जैसा पुरुष ही जान सकता है।

अष्टावक्र गीता

चिन्ता सहित है दीखता, फिर भी न चिन्तायुक्त है।
मन बुद्धि वाला भासता, मन बुद्धि से निर्मुक्त है॥
दीखे भले ही खिन्न, पर जिसमें नहीं है खिन्नता।
गम्भीर ऐसे धीर को, वैसा ही विरला जानता॥

भोले बाबा

ॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐॐ